साहित्येतिहास की दरारों के बीच

राजकुमार

हिंदी में रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का इतिहास-लेखन अभी तक 'वेदवाक्य' की तरह पढ़ा जा रहा है। उसके ज़रिये बना कैनन (प्रामाणिक राष्ट्रीय साहित्य) आज तक हिंदी में सर्वस्वीकृत भाव से चला आ रहा है। उन्होंने जो मानक गढ़ दिया, वही हिंदी के समाज और अकादमिक जगत में दोहराया जाता है। जो आलोचनाएँ हुईं, उसी के इर्द-गिर्द हुईं और उसी की पुष्टि में हुईं। उनके पाठ को फिर से जाँचने या प्रश्नांकित करने की कोशिश नहीं हुई। नये 'पाठ' नहीं बनाए गये। पिछले नब्बे वर्षों से उसी का पिष्टपेषण हो रहा है। उत्तर-आधुनिक विमर्शकार सुधीश पचौरी के लिए यह समस्यामूलक है। हज़ार साल के साहित्य को सिर्फ़ दो इतिहासकारों के सहारे कैसे समझा जा सकता है? उसमें भी उन इतिहासों के माध्यम से जो नब्बे वर्ष पूर्व प्रकाशित हुए थे? क्या वे आज की हमारी सांस्कृतिक-सामाजिक-साहित्यिक-आर्थिक-राजनीतिक समस्याओं को सम्बोधित करने में सक्षम हैं? अगर नहीं, तो उसके पुनर्पाठ की ज़रूरत है। पठन-पाठन के तरीक़े बदले हैं। सैद्धांतिकी बदली है। नयी अवधारणाएँ सामने आयी हैं। नयी सैद्धांतिकी और विमर्श के आलोक में उसे जाँचने-परखने की ज़रूरत है।

हिंदी में सुधीश पचौरी की छवि किसी भी 'टेक्स्ट' का 'उत्तर-आधुनिक पाठ' करने वाले विमर्शकार के रूप में है। वे किसी भी टेक्स्ट को 'अंतिम सत्य' या 'एकमात्र सत्य' मान कर नहीं चलते। लगातार उसे संदेह और प्रश्नवाचक की दृष्टि से देखते हैं। उसकी मूल समस्याओं या 'फ़ॉल्ट लाइनों' को पहचानने की कोशिश करते हैं। लेखक या पाठ की अवस्थिति को पकड़ने की कोशिश करते हैं। अवस्थिति पकड़ में आते ही 'टेक्स्ट' समस्यामूलक बन जाते हैं। फ़ॉल्ट लाइनें 'पाठ' के सातत्यवादी या सनातनी भाव को तोड़ती हैं।

उनकी ताज़ा रचना *तीसरी परम्परा की खोज* इस मायने में हिंदी की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है कि यह नव्य इतिहासशास्त्र को आधार बना कर पूर्ववर्ती इतिहास-लेखन/साहित्य-लेखन या कहें हिंदी की पहली परम्परा (जिसके प्रवक्ता रामचंद्र शुक्ल हैं और जिसके केंद्र में तुलसीदास हैं) तथा दूसरी परम्परा (जिसके प्रवक्ता हज़ारी प्रसाद द्विवेदी हैं और जिसके केंद्र में कबीरदास हैं) की मान्यताओं, स्थापनाओं, निर्मितियों और निर्णयों की धज्जियाँ उड़ाती है। उसकी जाँच-परख करती है। उसके स्थिर हो चुके अर्थ को हिलाती-डुलाती है। अर्थ के सातत्य और एकरेखीयता को जहाँ-तहाँ भंग करती है।
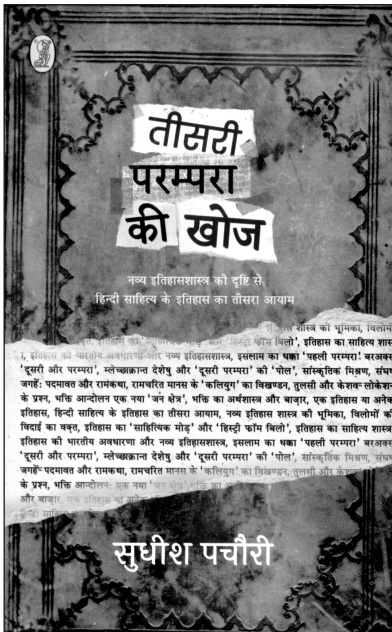
तीसरी परम्परा की खोज (2019)
सुधीश पचौरी
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
मूल्य : रु. 295
पृष्ठ : 263

छिपे हुए अर्थों या छिपा दिये गये/दबा दिये गये अर्थों को खोलती है। फ़ॉल्ट लाइनों को पढ़ने की कोशिश करती है। मध्यकालीन साहित्य के 'आधुनिक पाठ' या 'राष्ट्रवादी पाठ' का 'उत्तर-आधुनिक विमर्शों' एवं 'नव्य इतिहासवादी' दृष्टि से नया पाठ तैयार करती है।

लेखक का मानना है, 'उत्तर-आधुनिक नज़रिये, उत्तर-संरचनावादी विखण्डन-पद्धति, मिशेल फ़ूको की इतिहास-लेखन पद्धति, ग्रीनब्लाट और हैडन व्हाइट आदि के विचारों से विकसित 'नव्य इतिहासशास्त्र' ने इतिहास-लेखन के क्षेत्र में आज एक भारी क्रांति पैदा कर दी है।' लेकिन हिंदी का इतिहास-लेखन इन विचारों से अलग-थलग खड़ा है। पिछले हज़ार साल के इतिहास को सिर्फ़ दो इतिहासकारों के सहारे खींचा जा रहा है। उन्हीं के सहारे समझा जा रहा है। बावजूद इसके कि उन इतिहासों के भीतर मौजूद अर्थ, उनमें मौजूद साहित्य लोक-वृत्त में आने के बाद अर्थहीन हो गये हैं। यानी साहित्य और इतिहास के बीच भारी अंतराल आ गया है। कुछ अर्थ उन इतिहासों में छिपे या दबे हैं, या कुछ को दबा दिया गया है। सुधीश ने उन्हीं अर्थों को खोलने का काम अपनी इस पुस्तक में किया है। यहीं से नये अर्थ बन रहे हैं। यही पुनर्पाठ है। वे वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक समस्याओं के आलोक में इतिहास और मध्यकालीन टेक्स्ट को पढ़ते हैं और नये पाठ तैयार करते हैं।

सुधीश मानते हैं कि हिंदी साहित्य में जो दो परम्पराएँ तुलसी-कबीर की चुनी गयी हैं, वे कहने को अलग हैं— लेकिन तत्त्वतः एक ही 'माल' हैं। पूरा मध्यकालीन काव्य इन दोनों के झगड़े निपटाने में ही समेट दिया गया है। जायसी, नानक, रैदास, सूर, मीरा, केशव, बिहारी, पद्माकर, भूषण से लेकर आधुनिक लेखक किस परम्परा में अँटेंगे, यह तस्वीर साफ़ नहीं है। बहुवचनता, बहुलतावादी साहित्य इन कबीर-तुलसी या शुक्ल-द्विवेदी के द्विभाजन में ग़ायब है। यानी 'अनेकता में एकता' वाला जो राष्ट्रवादी विमर्श शुक्ल-द्विवेदी में उपस्थित है उसी को उनके परवर्ती चेलों ने आगे बढ़ाया। बावजूद इसके कि नव्य इतिहासवादी सैद्धांतिकी, उत्तर-आधुनिक विमर्श, उत्तर-संरचनावादी पद्धति, फ़ूको का ज्ञान और सत्तावादी विमर्श, विखण्डनवादी, अस्मितावादी जैसी अनेक सैद्धांतिकियाँ हमारे बीच मौजूद हैं। 'लोक और शास्त्र' के विलोम के बीच या बाहर उपस्थित चीज़ों को 'ज्ञानहंता' या 'इतिहासहंता' लोगों ने पढ़ा ही नहीं। 'लोक' का सवाल उठाया गया लेकिन 'लोक' किसका? यह भी साफ़ नहीं है। वे एकसूत्रवादी और एकस्वरवादी नजरियों पर नव्य इतिहास-दृष्टियों के हवाले से सवाल उठाते हैं। इतिहास की इकहरी, शाश्वतवादी अध्ययन प्रणाली को चुनौती देते हैं। वे कहते हैं कि दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर की किताब *कबीर के आलोचक* में जैसे ही कुछ अस्मितामूलक सवाल उठाए, वैसे ही 'अचानक कबीर एक 'विवादित क्षेत्र' बन गये। कबीर के दो रंग हो गये'। एक ब्राह्मणवादी रहा, जो इतिहासों में बना बताया गया। दूसरा, दलितवादी बना, जिसे धर्मवीर ने बनाया! कल को कोई उन्हें मुसलमान कवि की तरह पढ़े तो कुछ और रंग ही निकलेगा। कोई कबीर को एक बुनकर-बिज़नेसमेन की तरह पढ़े तो कुछ चकित करने वाले निष्कर्ष भी निकल सकते हैं।' सुधीश का पूरा बल इस बात पर है कि नयी सैद्धांतिकी के सहारे हिंदी-साहित्य में निर्मित

इन 'विलोमों' को विदा किया जा सकता है। 'विलोमों की विदाई का वक़्त' विनिबंध इसी बात पर ज़ोर देता है और 'पाठ भिन्नता' की वकालत करता है। कबीर या अन्य कवियों को हाल के दिनों नये ढंग से पढ़ने की कोशिश हुई भी है। धर्मवीर के लेखन के बाद यह सवाल उठाया गया है कि उन्हें दलित अस्मिता का कवि मानने के बजाय 'ओबीसी' के दायरे में रखा जाना चाहिए, क्योंकि संवैधानिक दृष्टि से वे उसी श्रेणी में बैठते हैं। 'कबीर पर क़ब्ज़े की लड़ाई' से उसके कई पाठ, कई रंग हो गये हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह भी कबीर को एक बुनकर-बिज़नेसमेन की तरह पढ़कर नया पाठ तैयार करते हैं। सम्भव है, सुधीश की दृष्टि इधर न गयी हो।

यह पुस्तक नव्य इतिहासशास्त्र की कुछ सैद्धांतिकी लेकर आगे बढ़ती है और उसी के सहारे शुक्ल और द्विवेदी के इतिहास का उत्खनन करती है। बल्कि कहें तो उसी सैद्धांतिकी से आगे बढ़ कर नये 'पाठ' सम्भव करती है। कहना न होगा, इस पाठ की सीमा भी इसी आधार पर तय हो जाती है। एक साथ ही दर्जनों असुविधाजनक सवालों के साथ पुस्तक आगे बढ़ती है। इन सवालों के उत्तर ढूँढ़ने के क्रम में ही नये पाठ तैयार होते हैं। एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल, जिसे सुधीश ने बाईपास कर दिया है, वह है मिश्रबंधुओं के इतिहास से संबंधित। वे जब यह सवाल उठाते हैं कि 'क्या आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी-राष्ट्रवाद की पहली साहित्यिक-सांस्कृतिक 'निर्मिति' है?' तो वे भी वही कर रहे होते हैं जो शुक्ल ने किया। शुक्ल ने अपने पूर्ववर्ती इतिहास को 'इतिवृत्त' से अधिक कुछ नहीं माना। उसके प्रति एक अवमानना का भाव शुक्ल में है। सुधीश पचौरी ने भी उन इतिहासों को नज़रअंदाज़ कर दिया। कमोबेश मिश्रबंधुओं के इतिहास *मिश्रबंधु विनोद* और *हिंदी नवरत्न* (जो उनके इतिहास लेखन का ही प्रोजेक्ट रहा है) को इस तरह ख़ुद सुधीश जिस थियरी के साथ आगे बढ़ा रहे हैं उसी के विरुद्ध हो जाते हैं। जो सवाल शुक्ल के इतिहास के संदर्भ में उन्होंने उठाया है, वह मिश्रबंधुओं के इतिहास के लिए भी पूछा जाना चाहिए था। हिंदी का पाठक और इतिहासकार लगभग उसे नज़रअंदाज़ करते हुए आगे बढ़ता है इसलिए शुक्ल के यहाँ पैदा हुए विमर्श और मिश्रबंधुओं के पैदा हुए विमर्श के बीच के सातत्य और टूट को नहीं देख पाता। चूँकि हिंदी साहित्य के इतिहास के केंद्र में शुक्ल या द्विवेदी हैं तो सारी बहसें वहीं से उठती हैं और वहीं से नये पाठ को आगे बढ़ाया जाता है। 'तुम्हीं से लड़ाई, तुम्हीं से मोहब्बत ...' वाली स्थिति होती है।

सुधीश एक मानीख़ेज़ और तीखा सवाल उठाते हैं : 'माना कि शुक्ल के लेखन तक मुग़लकाल के इतिहास को विस्तार से नहीं लिखा गया था। द्विवेदी के लेखन तक नयी सूचनाओं का अभाव रहा होगा, लेकिन नामवर सिंह की *दूसरी परम्परा की खोज* के लेखन तक मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मुग़लकाल का आर्थिक इतिहास भी लिख दिया था, फिर भी इसकी ख़बर नहीं लगी'। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या शुक्ल, द्विवेदी और नामवर सिंह उन हिंदुत्ववादियों के मेल में खड़े हैं जो 'इतिहास को एक अखण्ड, अविच्छिन्न, सतत सनातन, शाश्वत और निरंतर प्रवाहमान मानते हैं'।

सुधीश ने 'नव्य इतिहासशास्त्र की भूमिका' के पहले वाक्य में यह सवाल उठाया है कि 'क्या आचार्य रामचंद्र शुक्ल का *हिंदी साहित्य का इतिहास* हिंदी-राष्ट्रवाद की पहली साहित्यिक-सांस्कृतिक 'निर्मिति' है?' क्या वह ख़ास प्रकार की हिंदू/हिंदी संस्कृति का इतिहास है? क्या वह उर्दू साहित्य के इतिहास की स्पर्धा में लिखा गया है?' ऐसे दर्जन भर सवालों के बीच से गुज़रते हुए सुधीश अपनी मुद्रा स्पष्ट कर देते हैं, लेकिन यह सवाल नहीं उठा पाते या उठाए गये सवालों के उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश नहीं करते कि आख़िर गार्सां द तासी के इतिहास में जब उर्दू के लेखक मौजूद हैं तो वे *हिंदी साहित्य के इतिहास* से ग़ायब कैसे हो गये, या अचानक शुक्ल या द्विवेदी के इतिहास तक पहुँचते-

पहुँचते कहाँ गुम हो गये? गार्सा द तासी के इतिहास की भी सीमाएँ हैं लेकिन उसने कबीर की कविता में 'पॉवर पोएट्री' महसूस की। अकृत्रिम सरलता और सौंदर्य देखा जो बाद के इतिहासकारों में भाषाई अहंकार, मुखमोहिनी शक्ति, अक्खड़पन में कैसे बदली? इन मसलों पर भी विचार करने की ज़रूरत है। शुक्ल के इतिहास में 'तुलसी केंद्रीयता' के कारण क्या रहे हैं? क्या पूर्ववर्ती इतिहास उन्हें 'माल' उपलब्ध कराता है? यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल है, जिसे जानने की कोशिश इस पुस्तक में इसलिए होनी चाहिए थी, कि यह पुस्तक नव्य इतिहासशास्त्र की दृष्टि से पूर्ववर्ती इतिहास पर सवाल खड़े कर रही है। विकेंद्रणवादी सैद्धांतिकी से इतिहास को पढ़ते हुए 'शुक्ल और द्विवेदी को संकेंद्रित' करना सैद्धांतिकी के विरुद्ध खड़े होना ही कहा जाएगा। यह देखा जाना चाहिए था कि जॉर्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास के केंद्र में तुलसी को क्यों रखा है?

इस पुस्तक की खूबसूरती और उपलब्धि नव्य इतिहासशास्त्र की अवधारणाएँ और सैद्धांतिकी है। सुधीश पचौरी की ख़ासियत रही है कि उन्होंने हिंदी पाठकों के व्यास को बृहतर किया है। पहले वे उत्तर-आधुनिकता के उपकरणों के सहारे नये पाठ करने के तरीक़े सिखाए। अब इस पुस्तक के माध्यम से नव्य इतिहासशास्त्र की सैद्धांतिकी के सहारे इतिहास बनने की प्रक्रिया सिखा रहे हैं और बना भी रहे हैं। 'विलोमों की विदाई का वक़्त', 'इतिहास का साहित्यिक मोड़ और 'हिस्ट्री फ्रॉम बिलो', 'इतिहास का साहित्यशास्त्र', 'इतिहास की भारतीय अवधारणा और नव्य इतिहासशास्त्र' आदि निबंध नव्य इतिहासशास्त्र की सैद्धांतिकी से जुड़े हैं।

नव्य इतिहासशास्त्र में साहित्य और इतिहास के संबंधों पर गम्भीरता से विचार हुआ है। क्लासिकल इतिहास-लेखन में साहित्य और इतिहास दो भिन्न विधाएँ थीं। साहित्य इतिहास के दायरे से बाहर था या उसका पुछल्ला भर। लेकिन नयी सैद्धांतिकी में न सिर्फ़ दोनों पास आ गये बल्कि साहित्य को भी इतिहास का दर्जा मिला है। मोंटरोज के हवाले से सुधीश बताते हैं कि उसने साहित्य और इतिहास के भेद को समस्यारहित मानने से इनकार किया। टेक्स्ट और कांटेक्स्ट के संबंधों को समस्यारहित होने से इनकार किया। लेखक या टेक्स्ट को 'एकीकृत' और 'स्वायत्त' मानने के विशेषाधिकार का प्रतिरोध किया और उनको साहित्यिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में रखने की कोशिश की। वे कहते हैं कि कल तक जो इतिहास साहित्य को पुछल्ला मानता आया था, वह साहित्य को आज महत्त्व देने लगा। साहित्य बृहत्तर सांस्कृतिक क्रिया का हिस्सा माना जाने लगा है। नव्य इतिहासशास्त्र मानता है कि इतिहासकार अतीत को वस्तुगत और वैज्ञानिक तरीक़े से दोबारा हासिल नहीं करते, बल्कि वर्त्तमान के नज़रिये से उसे निर्मित करते हैं। इस सिद्धांत पर उत्तर-आधुनिकतावादी 'विकेंद्रण' (डिसेंटरिंग) का भी प्रभाव पड़ा है इसलिए हम आज 'विकेंद्रित साहित्य' का समारोह मनाते हैं। उत्तर-आधुनिक दृष्टि से 'वर्तमानता' भी बीती हुई होती है। जबकि नव्य इतिहासशास्त्र का काम है इतिहास को वर्तमान से वर्तमान के लिए बनाना। इतिहास के बने बनाए फ़ार्मूले को इस नव्य इतिहासशास्त्र में ध्वस्त मान लिया गया है। मसलन इतिहास में 'तटस्थता' जो कल एक मूल्य की तरह था, उसकी विदाई हो गयी। फ़ूको तटस्थता को ख़ारिज करते हैं। वे इतिहास और सत्य के बीच मान लिए गये संबंधों को भी ख़ारिज करते हैं। इतिहास का ज्ञान पूरी तरह वस्तुगत सत्य नहीं होता। वह निजी या आत्मगत होता है। यहाँ तक कि 'पाठक' भी कोई तटस्थ प्राणी नहीं होता, बल्कि वह भी किसी तट के 'नज़दीक' बैठा होता है। 'सार्वभौम सत्य' जैसी भी कोई चीज़ नहीं होती। फ़ूको के लिए इतिहास एक 'फ़िक्शन' है तो साहित्य का इतिहास फ़िक्शनों का फ़िक्शन है।

'इतिहास का साहित्यिक मोड़ और हिस्ट्री फ्रॉम बिलो' विनिबंध में सुधीश इतिहास के बदलते हुए अर्थ को सामने रखते हैं और साहित्य और इतिहास के संबंध को दिखाते हैं। इस सैद्धांतिकी के हवाले से वे बताते हैं कि वेद, उपनिषद, पुराण, स्मृति आदि मिथकीय ग्रंथ, जिसे इतिहास नहीं माना जाता था, वे सब इतिहास की एकश्रेणी हैं। सार्वजनिक स्मृति भी आज इतिहास की चीज़ है। साहित्य

के इतिहास को 'सांस्कृतिक इतिहास' की ही तरह पढ़ा जाना चाहिए। बाबरी मस्जिद-मंदिर विवाद या 'पद्मावत' फ़िल्म की रिलीज़ के संदर्भ में महाकाव्य का विवाद में आना और 'टेक्स्ट और उसकी 'पब्लिक मेमॅरी' के बीच मौजूद 'फॉल्ट लाइनों' को तभी पढ़ा जा सकता है। क्योंकि 'हर यथार्थ एक सामाजिक और सांस्कृतिक 'निर्मिति' होती है। हर चीज़ एक-दूसरे से किसी न किसी तरह जुड़ी होती है'। 'नव्य इतिहास ने स्थापित किया कि लिखित के अलावा अन्य स्रोतों से भी प्रमाण जुटाए जा सकते हैं और सिर्फ़ ऑफ़िशियल इतिहास ही इतिहास नहीं होता। हर युग की जनता का इतिहास होता भी होता है। इसके अनुसार, वाचिक इतिहास या मौखिक इतिहास (ओरल हिस्ट्री), प्रचलित, क़िस्से कहानियाँ, लोक-कथाएँ, लोक-स्मृतियाँ, मिथक आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण संरचनाएँ और स्रोत होते हैं जितने कि लिखित दस्तावेज़'। इतिहास के भीतर 'बहु-स्वरता' होती है। एक साथ कई स्वर मौजूद होते हैं। साहित्य अपने आप में इतिहास है और 'साहित्य के इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास की तरह पढ़ा जाना चाहिए'। 'साहित्य का इतिहास व्याख्याओं का इतिहास ही होता है'। 'इस तरह कबीर, जायसी, सूर या तुलसी या प्रसाद या पंत या निराला किसी भी इतिहास के उदाहरण मात्र नहीं हैं बल्कि वे स्वयं एक इतिहास हैं। इसी बिंदु पर साहित्य, इतिहास बनता है। साहित्य का इतिहास अपने आप में एक इतिहास है। इन कवियों की कृतियाँ, इनके समय के राजाओं के फ़रमानों दस्तावेज़ों और यात्रियों के वृत्तांतों, सिक्कों, कपड़ों, मण्डियों बाज़ारों की तरह एक इतिहास बनाती हैं।

सुधीश बताते हैं कि उसने साहित्य और इतिहास के भेद को समस्यारहित मानने से इनकार किया। टेक्स्ट और कांटेक्स्ट के संबंधों को समस्यारहित होने से इनकार किया। लेखक या टेक्स्ट को 'एकीकृत' और 'स्वायत्त' मानने के विशेषाधिकार का प्रतिरोध किया और उनको साहित्यिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में रखने की कोशिश की। वे कहते हैं कि कल तक जो इतिहास साहित्य को पुछल्ला मानता आया था, वह साहित्य को आज महत्त्व देने लगा। साहित्य बृहत्तर सांस्कृतिक क्रिया का हिस्सा माना जाने लगा है।

वे ग्रीनब्लाट के 'सांस्कृतिक साहित्यशास्त्र' के हवाले से कहते हैं कि 'हर टेक्स्ट एक सांस्कृतिक निर्मिति होती है'। उसके अनुसार, 'सब प्रकार के प्रतिनिधान / विधायक व्यापार / शब्दांकन / प्रतिबिम्बन (जैसे कविता, कहानी या अन्य टेक्स्ट) सत्तामूलक होते हैं इसलिए संस्कृति में कुछ तटस्थ नहीं है। न अंतर्वस्तु, न रूप। हर कृति या टेक्स्ट इसी प्रकार सत्ता (पॉवर) के संघर्ष की 'साइट' या जगह होती है। उसमें तरह-तरह के मानियों और विमर्शों के तनाव और संघर्ष सक्रिय रहते हैं। 'सांस्कृतिक साहित्यशास्त्र का काम है सत्ता और प्रति-सत्तात्मक तनाव बिंदुओं और संघर्ष बिंदुओं को खोजना, पकड़ना और बताना है कि किन-किन तनावों, संघर्षों और उपादानों से यह सांस्कृतिक टेक्स्ट या रचना सम्भव हुई है'।

इन्हीं दृष्टियों को आधार-बिंदु बना कर सुधीश *नाट्यशास्त्र* को इतिहास बताते हुए कहते हैं कि 'नाट्यशास्त्र का इतिहास न इकहरा है न एकरेखीय है बल्कि पहले क्षण से ही वह 'कंफ़्लिक्चुअल' है। यानी उसके निर्माण में सत्तामूलक झगड़ा है जो देवताओं और असुरों के बीच है'। *कथासरित्सागर* के हवाले वे यह भी कहते हैं 'नव्य इतिहासशास्त्र ने अब आकर इतिहास और कथा के संबंध को पहचाना, भारतीय परम्परा में तो कथा और इतिहास एक ही हैं। यह कथा कही सुनी जाती रही है यानी मौखिक रही है जिसे बाद में लिपिबद्ध किया गया है और इसका भी रोचक इतिहास है'। *कथासरित्सागर* और *रामचरितमानस* दोनों के बीच कथा कहने की एक ख़ास प्रणाली को रेखांकित करते हुए सुधीश मानते हैं कि *कथासरित्सागर* का उद्देश्य 'मुक्ति' है और मानस का 'आत्मा की मुक्ति'। मुक्ति यानी ज्ञान। 'इतिहास का उद्देश्य भी मुक्ति यानी ज्ञान ही है'।

नव्य इतिहासशास्त्र की सैद्धांतिकी को भारतीय साहित्य परम्परा में घटित कर लेने के बाद सुधीश *हिंदी साहित्य के इतिहास* पर आते हैं। 'इस्लाम का धक्का और 'पहली परम्परा' के बरअक्स 'दूसरी परम्परा' निबंध में यह निष्कर्ष देते हैं कि शुक्ल अपने इतिहास में 'इस्लाम को 'बहुत बड़ा धक्का' मानते हैं लेकिन उसे 'एब्ज़ार्ब' करने की बात कह धक्के की चोट पर मरहम पट्टी कर देते हैं'। इस्लाम धक्का है, लेकिन भक्ति उसका पाचक बन जाता है। हिंदू मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्तिमार्ग का विकास हुआ। एक ख़ास क़िस्म का महाआख्यान शुक्ल वैष्णव भक्ति के लिए बनाते हैं। वैष्णव भक्ति के राजमार्ग के लिए अन्य भक्तिमार्ग को शुक्ल कच्चा माल साबित कर देते हैं। आदिकाल में जो भिन्न प्रवृत्तियाँ उभरी थीं उसका भी समाहार वहीं होता है। वैष्णव भक्ति मार्ग को *महाभारत* और पुराण कालीन धर्म भावना से जोड़ देते हैं। उसकी अविचल धारा इस्लाम के धक्के खा कर भी उससे जुड़ी रहती है। यानी धक्के खाकर भी भंग नहीं होती है। मुसलमानों के हमलों का ज़िक्र कई बार करते हैं। प्रतिरोध का भी ज़िक्र है। वीरगाथाकाल को उस रूप में दिखाते भी हैं, लेकिन जब मुसलमान जम गये तो जनता के बीच 'धर्म से विचलित न होने' देने के लिए धर्म का प्रचार किया जाने लगा। मुसलमानों के आने से सच्चे धर्मभाव का कुछ ह्रास हुआ था, लेकिन उस धक्के ने उसे फिर से जोड़ दिया। शुक्ल की इस सातत्यवादी इतिहास दृष्टि को सुधीश ने पकड़ा है। वज्रयानियों और नाथपंथियों के साहित्य और धर्म को प्रचारात्मक/साम्प्रदायिक मानते हैं, जबकि वैष्णव भक्ति को ईश्वर का सच्चा स्वरूप दिखाने वाला हृदयग्राही।

वे वीरगाथाकाल/आदिकाल के भीतर मौजूद कई स्वर, कई आवाज़ें, कई दरारें, कई क़िस्म के संघर्ष, टूट और चुनौतियों को पाते हैं जो शुक्ल के इतिहास और द्विवेदी के यहाँ बाद में सातत्यवादी हो जाती हैं। वे लिखते हैं कि 'शुक्लजी के अपने इतिहास में कम से कम तीन तरह की टूटें मौजूद हैं जिसकी चर्चा वे करते हैं, लेकिन मानते नहीं हैं।' वज्रयान, तंत्र और नाथपंथी सम्प्रदाय तथा प्राकृत अपभ्रंशादि और लोक-भाषा के कवि विद्यापति और खुसरो आदि।

द्विवेदी अपने इतिहास में इस्लाम के धक्के का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं। यानी द्विवेदी के लिए इस्लाम के आने से हिंदी साहित्य में ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा। अगर पड़ा भी तो चार आने बराबर, बारह आने वैसे का वैसा ही रहा। *दूसरी परम्परा की खोज* में 'नामवर सिंह ने 'चार आने' वाली बात को, इस्लाम की 'प्रतिक्रिया' की जगह 'प्रभाव' माना है और यह 'प्रभाव' भी कुछ वाक्यों के बाद 'स्वभाव' बन गया है'। सुधीश का कहना है कि गुरु-शिष्य की लाइन में कोई अंतर नहीं है।

'म्लेच्छाक्रांत देशेषु' और 'दूसरी परम्परा की खोज' निबंध में सुधीश अनेक उदाहरणों (वल्लभाचार्य, रामानंद, जायसी, नानक, रामदास, विद्यापति से लेकर हबीब) से स्पष्ट करते हैं कि समूची भक्तिकालीन कविता पर इस्लाम और हिंदू के टकराव, लेन-देन, और मिश्रण और सुलह और सुधार के निशान हैं। वे भक्ति आंदोलन को स्वायत्त प्रक्रिया मानने के ख़िलाफ़ हैं। वे इस्लाम की उपस्थिति, टकराव, संघर्ष और निशानदेही को मौजूद पाते हैं। वे लिखते हैं 'इनको अनुपस्थित मानना या इनको कम करके आँकना एक प्रकार का ब्राह्मणीय हिंदूवादी अहंकार ही है जिसके कई नये रूप हमें आज के हिंदुत्ववाद में नज़र आते हैं।'

सुधीश कबीर की कविता में बाज़ार की सत्ता और श्रम की महिमा के प्रवेश के हवाले से कहते हैं कि यह मुस्लिम शासन और सत्ता की अर्थनीतियों की देन है। उनके अंदर आत्मविश्वास बुनकरी श्रम से आता है। कबीर आदि संत 'हज़ारों साल से एकत्र हो रहे मेघखण्डों' के बरसने से नहीं बने, बल्कि वे मुग़लकालीन नीतियों के बाई प्रोडक्ट और इस तरह एम्पावर्ड संत हैं'। यानी टूट हुई। 'सत्ता बदली। राजनीति में तनाव और बदलाव हुए। सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक अनुभव और मानक बदले'। फिर सुधीश एक मानीख़ेज़ और तीखा सवाल उठाते हैं : 'माना कि शुक्ल के लेखन तक मुग़लकाल के इतिहास को विस्तार से नहीं लिखा गया था। द्विवेदी के लेखन तक नयी सूचनाओं का

अभाव रहा होगा, लेकिन नामवर सिंह की *दूसरी परम्परा की खोज* के लेखन तक मार्क्सवादी इतिहासकारों ने मुग़लकाल का आर्थिक इतिहास भी लिख दिया था, फिर भी इसकी ख़बर नहीं लगी'। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या शुक्ल, द्विवेदी और नामवर सिंह उन हिंदुत्ववादियों के मेल में खड़े हैं जो 'इतिहास को एक अखण्ड, अविच्छिन्न, सतत सनातन, शाश्वत और निरंतर प्रवाहमान मानते हैं'। 'इतिहास को सरिता का रूपक मानना (शुक्ल) या धारा का रूपक मानना (द्विवेदी) सातत्य की स्थापना ही है। *दूसरी परम्परा की खोज* भी ऐसा ही करती है'। अभी तक हिंदी में नामवर सिंह की छवि एक सेकुलर, प्रगतिशील, मार्क्सवादी आलोचक और बुद्धिजीवी की रही है, लेकिन सुधीश ने नव्य इतिहासशास्त्र की सैद्धांतिकी के सहारे, एक ख़ास लोकेशन पर खड़े होकर नामवर सिंह को हिंदुत्ववादी धारा के आसपास खड़ा पाया।

तीसरी परम्परा की खोज इस मायने में बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठती है कि यह इतिहास को अविच्छिन्न, सनातनी मानने के बजाय उसमें टूट देखती है। हिंदुत्ववादी पॉलिटिक्स और उसके वर्चस्व को विखण्डित करने की कोशिश करती है। वे इतिहास के हवाले से बताते हैं कि 'हिंदुत्ववादी इतिहासकारों का मानना है कि हिंदुओं को तलवार के ज़ोर पर बड़ी संख्या में मुसलमान बनाया गया। जबकि इतिहास में उपलब्ध होने वाले तथ्य इसको पूरी तरह पुष्ट नहीं करते। उपलब्ध प्रमाण यही कहते हैं कि ये धर्मांतरण धीरे-धीरे लम्बी प्रक्रिया में हुए और दोनों तरफ़ हुए, यानी बहुत से मुसलमान लम्बी कालावधि में हिंदू भी बने। लेकिन तलवार के बल पर कम ही बने'। इतिहासकार हरबंस मुखिया के हवाले से उन्होंने बताया है कि 'चैतन्य ने ओडिशा के गवर्नर को हिंदू बनाया था। उसके कई पठान साथी भी हिंदू बने। वे 'पठान वैष्णव' कहलाए'। शाहजहाँ के अधिकारी मिर्जा सालेह और मिर्जा हैदर जो कभी मुसलमान बने थे, वापस अपने धर्म में लौट आये। 'मुसलमान लड़के हिंदू लड़कियों से शादी करने के बाद हिंदू बन जाते थे। शाहजहाँ ने चाहा कि इसे रोके, लेकिन प्रयत्न करके भी वह नाकामयाब रहा। उसी के समय में 5000 ऐसी शादियाँ हुईं'। सूफ़ी कवियों के संदर्भ में इतिहास के हवाले से यह भी बताया गया है कि भले ही वे इस्लाम के प्रचार के लिए आये लेकिन न मुस्लिम सुलतान भारत आकर वैसा ही कट्टर रहा न सूफ़ी। वे परिस्थितियों के कारण नरम लाइन लेने लगे थे। मुल्ला दाउद की *चंदायन* दिल्ली की मस्जिद से पढ़ी जाती थी, क्योंकि इसमें कुरान के बहुत से संदेश निहित हैं जिन्हें सुना कर इस्लाम को पॉपुलर बनाया जा सकता है। ऐसे संदर्भों की भी भरमार है जो बताती है कि इस्लाम के स्वरूप में भी भारी बदलाव आया। इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच संवादों-विवादों की फॉल्ट लाइनों की कई कड़ियाँ यहाँ मौजूद हैं।

वर्षों से *पद्मावत* एक प्रेमाख्यान की तरह पढ़ाई जाती रही है। अकादमिक जगत में उसके अर्थ निर्धारित थे। लेकिन जैसे ही उस पर फ़िल्म बनी, सामाजिक-राजनीतिक झगड़े का कारण बन गया। सुधीश ने *पद्मावत* के 'पब्लिक डोमेन' में आने के बाद जो नये पाठ बने, नये अर्थ खोजे गये, राजनीतिक संघर्ष की जो स्थितियाँ बनी उसे 'पॉपुलर कल्चर' की प्रविधि के भीतर रख कर समझने-समझाने की कोशिश की है। वे प्रेमाख्यान के 'घृणाख्यान' में बदले जाने की प्रक्रिया को राजपूती अस्मिता और मर्दवादी आन-बान-शान से जोड़ते हैं। उनका मानना है कि *पद्मावत* को सिर्फ़ साहित्यिक अर्थ से नहीं समझा जा सकता, बल्कि 'सांस्कृतिक भौतिकवादी' (कल्चरल मेटीरियलिज़म) के औज़ारों के ज़रिये समझा जा सकता है। 'पब्लिक मेमॅरी' और 'टेक्स्ट' के बीच झगड़ा हो गया। करणी सेना ने पद्मावती को देवी और ईश्वर का रूप दे दिया। मिथकीय कहानी एक समुदाय के इतिहास की कहानी में बदल गयी। इससे शुक्ल के अचल अर्थ अपनी जगह से हिल गये। टेक्स्ट जब जनता के बीच प्रचलित रहता है तो उसके मानी की परतें बढ़ती जाती हैं और उसकी आर्थिकी भी काम करने लगती है। विवादों से फ़िल्म के बॉक्स ऑफ़िस पर हिट होने की गारंटी हो गयी। *पद्मावत* के मानी गुजरात और हिमाचल के चुनावों से भी जुड़े, क्योंकि दोनों में राजपूत वोट थे। यानी इस टेक्स्ट से

एक साथ ही कई पाठ निकल आये। सुधीश नव्य इतिहासशास्त्र के हवाले दर्ज करते हैं कि 'कोई भी टेक्स्ट बंद नहीं होता बल्कि 'खुला' होता है। वह सिर्फ़ परिस्थितियों का उत्पाद मात्र नहीं होता, नयी परिस्थितियों को रचने वाला भी होता है'।

तुलसी के *रामचरितमानस* के 'चलन' (करेंसी) और 'संचरण' (सर्कुलेशन) का भी अध्ययन सुधीश ने किया है। ये दोनों 'पद' नव्य इतिहासशास्त्र की दृष्टि से बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। वे *रामचरितमानस* के अनेक पाठ, जिसमें तुलसी पाठ से लेकर कथावाचकों, रामलीलाओं के पाठ से लेकर टीवी सीरियलों तक, का ज़िक्र करते हैं और उसके बाद उसकी लोकप्रियता का दोहन करने वाले हिंदुत्ववादी शक्तियों के पाठ को सामने रखते हैं। लोकप्रिय संस्कृति में आकर यह टेक्स्ट राजनीतिक ताक़त अर्जित करने का माध्यम बना। रथयात्रा, बाबरी मस्जिद विध्वंस, कारसेवा से लेकर गोधरा–गुजरात तक उसके पाठ बनते हैं। इससे हिंदू–मुस्लिम धार्मिक विभाजन के रास्ते खुले।

सुधीश का मानना है कि 'मानस सिर्फ़ किसी एक युग का प्रोडक्ट नहीं है बल्कि वह स्वयं एक युग की 'कल्पना' है और ऐसा हर टेक्स्ट अपने पाठकर्त्ता (ओं) और अपने विमर्शात्मक, सदुपयोगों, दुरुपयोगों के लिए खुला रहता है'। मिथकीय कथा को तुलसी ने 'प्रतिरोधात्मक धार्मिक कथा' में बदला जिसके प्रतीक, रूपक और मुक्ति की कथा हिंदू मानस में संचरण करती रहती है। वे लिखते हैं कि 'मानस एक 'कूट नियंत्रित' (कोड कंट्रोल्ड) नैरेटिव है। उसे हिंदू–कोड में ढालकर एक हिंदू नैरेटिव बनाया गया है'। इसके लोकप्रिय होने की एक बड़ी वजह यह कि तुलसी इसे 'कलियुग की दवा के पैकेज की तरह प्रस्तुत करते हैं, वह भी गारंटी के साथ'। यह प्राणियों का मुक्तिदाता है।

वे जन–व्याख्या और अकादमिक व्याख्या के बीच भारी अंतराल की तरफ़ भी इशारा करते हैं। रामकथा का अकादमिक पाठ उसे 'सेकुलराइज़' करता रहा और सामुदायिक व्याख्या उसे 'कम्युनल' बनाता रहा। वे भक्ति साहित्य को धार्मिक साहित्य की तरह ग्रहण करने को कहते हैं, क्योंकि नयी सैद्धांतिकी में यह इसी रूप में आता है। मध्यकालीन साहित्य के 'साहित्यिक पाठ' और 'धर्मांध पाठ' को समझने पर बल देते हुए सुधीश कहते हैं कि धर्मांध पाठ, धार्मिक टेक्स्ट को रिड्यूस करके चलता है और एक ही मानी देता है जबकि साहित्यिक पाठों में बहुस्वरता होती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि धर्मांध पाठ के 'कंट्रोल' को प्रश्नित करके, उसे 'डिकंट्रोल' कर देना ही 'सेकुलराइज़' करना है। तुलसी के कलियुग को भी सुधीश अमानवीय सिस्टम मानते हैं और उसका भी विखण्डन करते हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास में केशवदास उपेक्षित कवि नहीं हैं, लेकिन उन्हें उचित सम्मान भी नहीं दिया गया। *रामचंद्रिका* लिखने की सज़ा उन्हें दी गयी। रामकाव्य लिखने के कारण रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी से उनकी तुलना कर 'कमतर' कवि साबित किया। जबकि सुधीश 'तुलसी और केशव : 'लोकेशन' के प्रश्न' में तुलसी और केशवदास को आमने–सामने रखकर दोनों को भिन्न 'लोकेशन' का कवि साबित करते हैं। वे शुक्ल के इस मत से भिन्नता रखते हैं कि 'केशव को कवि हृदय नहीं मिला था'। वे लिखते हैं कि तुलसी 'रामभक्त' हैं। केशव कवि हैं, भक्त नहीं। वे उस किंवदंती का भी हवाला देते हैं जो अकबर और केशव के बीच मानी जाती है। केशव से अकबर ने पूछा इस वक़्त बड़ा कवि कौन है, तो केशव ने कहा वे ही हैं। अकबर ने पूछा कि तुलसी क्या हैं? केशव ने कहा, 'संत'। 'ओरल हिस्ट्री' की दृष्टि से इस प्रसंग को देखा जाए तो शुक्ल के मानक धराशायी हो जाते हैं। तुलसी धार्मिक कवि हैं, जबकि केशव सिर्फ़ कवि हैं। 'केशव की कविता धर्ममुक्त और इस तरह सम्प्रदाय मुक्त कविता है'। तुलसी की कविता भक्ति और मुक्ति की कविता है। ज़ाहिर है, 'केशव की सांस्कृतिक जगह (साइट) कविता है, तुलसी की जगह (साइट) धर्म है'।

सुधीश इतिहासकार विसेंट स्मिथ के हवाले से कहते हैं कि उन्होंने 'मानस' को 'हिंदुओं की बाइबिल माना'। धर्मग्रंथ का दर्जा दिया। वाल्मीकि *रामायण* 'धर्मग्रंथ' की तरह नहीं है। बाद में शुक्ल ने भी प्रकारांतर से उसे धर्मग्रंथ ही कहा। 'गोस्वामीजी की भक्ति पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है

उसकी सर्वांगपूर्णता ... उसका न कर्म या धर्म से विरोध है न ज्ञान से। धर्म उसका नित्य लक्षण है'। यानी यह डबल कोड से पुष्ट ग्रंथ है। धर्मग्रंथ भी और अकादमिक टेक्स्ट भी। सुधीश 'मानस' के पॉपुलर कल्चर, पब्लिक डोमेन एवं मास मीडिया के भीतर रख कर उसके कई अर्थ करते हैं। तुलसी की भक्ति को 'राजनीतिक प्रोग्राम' की तरह पढ़ते हैं। भक्तिमार्ग को 'राजनीतिक एकता का मार्ग' बताते हैं। कुल मिला कर यह 'हिंदू एकता' का काव्य की तरह आता है। कलियुग का भी विखण्डन प्रस्तुत करते हैं और विराट नैरेटिव के बड़े चिह्न 'राम' का भी। फिर इस निष्कर्ष की तरफ़ बढ़ते हैं कि केशव और तुलसी के भिन्न लोकेशन हैं। केशव न धार्मिक हैं। न रामानंदी। वे मुक्ति नहीं, भुक्ति के कवि हैं। 'केशव की लोकेशन इहलौकिक है, तुलसी की पारलौकिक है। *रामचंद्रिका* साहित्यिक टेक्स्ट है। वह धार्मिक पैकेज नहीं देती जबकि *मानस* देती है'। तुलसी राम की शरण में जाते हैं लेकिन *जहाँगीरजसचंद्रिका* लिखने वाले केशव 'उद्यम' के शरण में जाते हैं। उद्यम की वकालत केशव को प्रगतिशील बनाती है। इस तरह सुधीश रामचंद्र शुक्ल के बनाए मानक पर सवाल उठाते हैं। यह सवाल उठाना ही तीसरी परम्परा की तरफ़ बढ़ना है।

सुधीश ने निर्गुण और सगुण को एक बताने वाली या दोनों के बीच सामंजस्य बताने वाली अवधारणाओं को छोड़ दिया है। द्विवेदी ने अंततः 'युगनायक' का दर्जा 'राम' को दिया, कबीर को नहीं। क्योंकि राम के चरित्र में सामंजस्य है। तमाम तरह के विरोधों या अंतर्विरोधों को जज़्ब करने की क्षमता 'राम' में है। एक ख़ास क़िस्म से हिंदी साहित्य के इतिहास के महाआख्यानों को दोनों आचार्य विकसित करते हैं। अंततः वह महाआख्यान ब्राह्मणवादी हिंदूवादी पेंच में फँसा रहता है। नामवर सिंह की *दूसरी परम्परा की खोज* उससे उलझने के बजाय विस्तार देती है।

सुधीश ने अपनी इस पुस्तक में इतिहास की समूची जटिलताओं के साथ दो-चार करते नज़र आते हैं। इतिहास और मध्यकालीन साहित्य का पुनर्पाठ तैयार करते हैं। नयी अवधारणाओं से अर्थांतरण करते हैं। इस तरह 'तीसरी परम्परा की खोज' होती है।